

रही थी। उसमें यह तथ्य हुआ था कि उस वाद में शंकराचार्य हारे तो उन्हें गृहस्थ बनना पड़ेगा और मंडनमिश्र हारे तो उन्हें संन्यास लेना पड़ेगा। इस तरह उस वाद-निर्णय का इतना असर उन्होंने अपने जीवन पर माना था।

जरा सोचिये कि अगर उस वाद में शंकराचार्य हारते और उन्हें संन्यासी बनने के बाद फिर से गृहस्थ बनना पड़ता तो दुनिया में उनकी कितनी फजीहत होती, बदनामी होती, लेकिन उन दिनों महापुरुष चर्चा करते थे तो ऐसी ही चर्चा नहीं करते थे, जैसे यूक्लिड का भूमिति-शास्त्र है, जिसमें स्टेप बाय स्टेप आगे बढ़ा जाता है और नतीजे पर पहुँचा जाता है, उसमें स्टेप्स ही आगे ले जाते हैं और प्रमाण की जरूरत नहीं रहती है। वैसे ही यहाँपर चिन्तन का एक शास्त्र बना था। उस शास्त्र को माननेवाला कोई भी न्यायाधीश हो तो वह मान्य हो सकता था।

शंकराचार्य ने मंडनमिश्र की पत्नी को न्यायाधीश माना। कुछ दिनों तक चर्चा चली और आखिर मंडनमिश्र की पत्नी ने फैसला दिया। आप जरा सोचिये कि, अगर उस फैसले में उसका पति हारा तो मतलब यह हुआ कि उसे संन्यासी बनना पड़ेगा याने पत्नी को सारी आसक्ति छोड़नी पड़ेगी। इतना सब होनेवाला था, फिर भी न्याय माँगा गया और न्याय दिया गया। उसमें शंकराचार्य ने कोई खतरा अपने ब्रह्मचर्य के लिए महसूस नहीं किया। क्योंकि वे आत्मानुभव की बुनियाद पर खड़े थे। वह अन्तर्बल तो उनके पास था ही, लेकिन और दूसरा बल, शास्त्र के चिन्तन का भी उनके साथ था। न्यायाधीश जो भी फैसला देगा, उस शास्त्र के अनुसार ही देगा, यह मानी हुई बात थी। जैसे अभी सर्व-सेवा-संघ ने एक पत्रक जाहिर किया है, जिसमें कहा गया है कि कहीं भी गोली चली तो उसकी ज्युडिशियल इन्क्वायरी होनी चाहिए। क्या ज्युडिशियल इन्क्वायरी में हमेशा न्याय ही मिलता है? फिर भी आपने माना है कि मिलेगा। क्योंकि कानून का एक शास्त्र बना हुआ है। उस शास्त्र के अनुसार ही कोई मनुष्य न्याय देगा तो तटस्थ बुद्धि से और ठीक से छानबीन कर देगा। तिस पर भी अन्याय हो सकता है। फिर भी आपने कानून में विश्वास रखा है, क्योंकि उसका एक शास्त्र बना है, वैसे ही हमारे यहाँ चिन्तन करने का एक शास्त्र बना हुआ है।

शंकराचार्य और मंडन मिश्र के उस वाद में संन्यास अन्तिम अवस्था है या गृहस्थाश्रम, इस विषय में तत्त्व-विचार की ही नहीं, समाज-शास्त्र की भी बात थी। लेकिन हमने चिन्तन का एक शास्त्र बनाया है, जो गौतम का शास्त्र है और उसे सबने माना है। कोई भी शास्त्र सीखना हो तो उसके लिए वह बुनियादी शास्त्र है। उसमें प्रमाण-चर्चा, प्रमेय-चर्चा और फिर उसका निर्णय—यह पद्धति थी। जो भी चर्चा चले, इस पद्धति के अनुसार ही चलती थी।

काशी में साधना-केन्द्र

हम शंकर, रामानुज, न्याय-सूत्र आदि पढ़ते हैं और देखते हैं कि उनमें से कोई भी एक-दूसरे का पर प्रहार करते हैं तो भी प्रमाण के साथ ही प्रहार किया जाता है और कोई उसका उत्तर दे तो प्रमाण के साथ ही दिया जाता है। हमारे कार्यकर्ताओं को उस चिन्तन-शास्त्र का अध्ययन करना होगा और उसके शिक्षण में चिन्तन-शास्त्र रखना होगा, तब फिर वे ठीक ढंग से चिन्तन करेंगे और चिन्तन-शास्त्र के अनुसार योग्य चिन्तन होगा तो जो शब्द

निकलेंगे, वे ठीक होंगे और शब्द-शक्ति कुंठित नहीं होगी। खुशी की बात है कि काशी में एक साधना-केन्द्र शुरू हो रहा है। वहाँपर तालीम की योजना होगी, गहरी तालीम की भी और शिविरों की भी योजना होगी।

साहित्य को जीवन देनेवाला विचार

मैं एक बात और कहना चाहता हूँ, जो इसीसे सम्बन्धित है। हमने भारत में आठ साल में थोड़े-बहुत काम किये। गांधीजी की मृत्यु को अब बारह साल हो रहे हैं। इन बारह सालों में हमने क्या किया और क्या नहीं किया, इसपर सोचेंगे तो ध्यान में आयेगा कि जितना 'किया', उससे ज्यादा नहीं 'किया'। हम जो कर सके, ऐसी चीजें कम निकलेंगी और जो नहीं कर सके, ऐसी चीजें ज्यादा निकलेंगी। इसी सिलसिले में हमने शिक्षण की बात कही थी। वैसे ही जान-बूझकर नहीं, फिर भी हमने साहित्यिकों की और साहित्य-प्रवृत्ति की अपेक्षा की है। मैं जहाँ-जहाँ गया, मुझे आश्चर्य हुआ कि साहित्यिकों ने इस विचार के साथ बहुत ही सहानुभूति दिखाई। कर्नाटक में जितने बड़े-बड़े साहित्यिक मिले, वे कुल क कुल सर्वोदय-विचार पर लट्टू हैं, बिलकुल फिदा हैं। वे इसकी ओर इतने आकर्षित हैं कि कहते हैं कि यही चीज है, जो कि साहित्य को नव-जीवन देती है, अन्यथा साहित्य को जीवन देनेवाली दूसरी कोई चीज नहीं है। इसका मुझे इतना आश्चर्य नहीं हुआ, क्योंकि मैं जानता था कि कर्नाटक में इस विचार पर पहले से ही श्रद्धा है। लेकिन मुझे आश्चर्य हुआ, जब बंगाल के साहित्यिकों ने भी इसपर श्रद्धा रखी और बड़े से बड़े साहित्यिकों ने कहा कि साहित्य में प्राण-संचार करनेवाली कोई चीज है तो यह नया विचार ही है, जो अभी प्रगट हो रहा है। यही अनुभव मुझे गुजरात में आया तो आश्चर्य नहीं हुआ, लेकिन मैंने देखा कि महाराष्ट्र में भी इस विचार के लिए अनुकूलता है। वैसे महाराष्ट्र में दो विचार के साहित्यिक हैं और वैसे होने ही चाहिए। जहाँ एक ही विचार के साहित्यिक होते हैं, वहाँ वह विचार कुंठित हो जाता है, इसलिए मैं समझता हूँ कि अगर सब साहित्यिक हमारे ही विचार का समर्थन करनेवाले निकले तो विचार कुंठित हो जायगा। महाराष्ट्र में दो विचार के साहित्यिक मिले, इसलिए मुझे खुशी हुई। वहाँपर कुछ अच्छे से अच्छे साहित्यिक इससे भिन्न विचारवाले हैं।

हमारा दोष

इतना सब होते हुए भी हमें साहित्यिकों की सेवा नहीं मिली। इसमें हम साहित्यिकों का दोष नहीं मानते हैं, बल्कि हमारा अपना ही दोष मानते हैं। हममें यह नम्रता होनी चाहिए कि जो हमारे आन्दोलन में नहीं हैं, तटस्थ हैं, उनके पास जायँ। क्योंकि वे इस आरोहण को हमसे ज्यादा जानेंगे, जो इससे अलग हैं, वे इसकी परीक्षा ठीक से कर सकेंगे, लेकिन हम सोचते हैं कि हम साहित्यिकों के पास क्यों जायँ? वे तो इस काम में दिलचस्पी लेते नहीं हैं, काम में योग देते नहीं हैं। अगर ऐसी कल्पना हम दूसरों के लिए करें कि जो हमारे काम में दिलचस्पी नहीं रखते हैं, मदद नहीं देते हैं, उनके पास क्यों जायँ तो वह कल्पना गलत नहीं होगी। लेकिन साहित्यिकों के लिए ऐसी कल्पना करना कतई गलत है। [चालू]